Pazach Shah

विवेक

गोस्वामी श्याममनोहर

पुष्टि प्रकाशन, किशनगढ़ (राजस्थान)

पुष्टि प्रकाशन :
महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य मार्ग
नया शहर, किशनगढ़ (राजस्थान)
भारत–305802

संस्करण :
प्रथम–1985

मुद्रक :
नईदुनिया प्रिन्टरी
बाबूलालचन्द छजलानी मार्ग
इन्दौर–452009

आमुख

मानव की यह विडम्बना है कि वह धर्म को ग्रहण तो कर लेता है लेकिन उसे जीने का दृढ़ निश्चय नहीं कर पाता। मनुष्य की मनुष्यता उसकी सामाजिकता या बुद्धिमत्ता में निहित न होकर उसकी धार्मिकता में निहित है। धार्मिक जीवन दमन और वर्जना का कुंठाग्रस्त और रुग्ण जीवन नहीं है, वह है संयत और संतुलित, परिष्कृत और उन्नत, विकुंठ और स्वस्थ जीवन-प्रणाली, जिसमें अपनी समस्त शक्तियों का समुचित और सुनिश्चित दिशा में प्रेरण होता है। इसमें व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्ति और अशेष सामर्थ्य भगवद्-अभिमुख हो जाते हैं। जगत् में जो कुछ है वह भगवान् का है, भगवान् के लिए है, भगवद्-भोग्य है इसलिए जगत् और जगत् की वस्तुओं में ममता न रखते हुए भगवत्-प्रसाद के रूप में ग्रहण करना ही उचित है। इसी प्रकार 'सोऽहम्' के रूप में होने वाले अहंकार के प्रचंड विस्फोट को 'दासोऽहम्' की सृजनात्मक ऊर्जा में परिणत कर देना एक दिव्य एवं सार्थक अनुभूति है।

सारा जगत् भगवत्-क्रीड़ा है, भगवान् की लीला है। इस नाटक के रंगमंच पर हम एक पात्र हैं। रिक्त पात्र में दिग्दर्शक भगवान् ने विशिष्ट चरित्र का सरस भाव भर दिया है, हमें उसका निर्वाह करना है। हमें न तो अहंकार-वश रंगमंच को त्यागना है और न ममता-वश इससे चिपके रहना है, केवल दिग्दर्शक के इशारे पर चलना है।

सम्पूर्ण सृष्टि और उसमें स्थित जीवन असंख्य रूपों और अनन्त भावों में परमात्मा का रमण है। रमण आत्मकाम का स्वभाव है अतः यह एक निष्प्रयोजन प्रक्रिया है। हर क्षण यह विवेक जगाए रखना है कि हमारी हर चेष्टा, हमारी हर क्रिया परमात्मा की क्रीड़ा की ही आंशिक अभिव्यक्ति है अतः वह अपने आप में ही प्रयोजन है। उसमें अपना प्रयोजन खोजने की चेष्टा न करें। किसी घटना का भली भाँति घट जाना ही हमारे अभिनय की पूर्णता है। यही हमारा निष्काम कर्म है। विराट् भगवत्-कर्म का एक अंश हमारे द्वारा भी उसकी इच्छा से सम्पन्न हो रहा है। यह मत सोचो कि हम अपने लिए कुछ कर रहे हैं।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने इस सर्वसमर्पण के सिद्धान्त को जीवन-प्रणाली के रूप में ढाल दिया है; जिसे पुष्टिमार्ग में सेवा-प्रणाली कहते हैं। तदनुसार भोग

और त्याग के एकांगी और अतिवादी दृष्टिकोण से बचते हुए अपने सामर्थ्य का भगवत्-विनियोग करने से ब्रह्मात्मक परमानन्द रूप मोक्ष के आनन्द से भी उत्कृष्ट भजनानन्द की अनुभूति होती है और यही मानव जीवन की सार्थकता है।

महाप्रभुजी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विवेकपूर्ण जीवन-प्रणाली के समर्थ व्याख्याता हैं महान् चिन्तक गोस्वामी श्याममनोहरजी। आपके गहन अध्ययन, सूक्ष्म चिन्तन, दिव्य अनुभूति और मौलिक अभिव्यक्ति के माध्यम से महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य के सिद्धान्त सहज ग्राह्य और हृदयंगम होकर जीवन पद्धति के रूप में स्थित हो जाते हैं। प्रस्तुत निबंध 'विवेक' इसी शृंखला की एक अनमोल कड़ी है। वैष्णव जगत् के सम्मुख इसे प्रस्तुत करते हुए हमें असीम आनन्द की अनुभूति हो रही है।

—

डॉ. गजानन शर्मा
केन्द्रीय कार्यकारी अध्यक्ष
अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्

१२, शिक्षकनगर, इन्दौर
फरवरी, १९८५

○

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति विट्ठलेश्वरः प्रभु श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तेनैव निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥

स्वेषु पुष्टिकरं कारावैरूप्यबुद्धिभयंकरम् ।
नमस्करोमि तं श्यामं सुन्दरं मतिप्रवंकरम् ॥

श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः ।
शिक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा ॥

और त्याग
विनियोग
की अनुभू

हैं महान्
दिव्य अ
सिद्धान्त
हैं। ग्रस्त
सम्मुख

१२, फि
फरवरी

षडस्ता धर्मविवेक-धर्मनिष्ठा/उड़ने का प्रयास : गुरुत्वाकर्षण का द्वन्द्व/केवल मनुष्य ही बुद्धिमान प्राणी नहीं/मनुष्य की विशेषता तार्किता-सामाजिकता नहीं : धार्मिकता/धर्म का बौद्धिक नहीं, धार्मिक उपयोग/विजय बाह्य प्रकृति पर नहीं, आंतरिक प्रकृति पर/वैराग्य : पलायन नहीं आत्मसंयम/संयम : दमन नहीं नियमन/सच्चा संयम : भगवद्विनियोग/अहंतायुक्त बोझ के भार से त्वरा/गहरी भ्रान्ति : जगत् को मिथ्या, हेय मानना/वैराग्यवादी दर्शन का जनक : अहंकार का प्रचंड विस्फोट/सारा जगत् भगवान् का नाटक/भगवान् दिग्दर्शक भी, अभिनेता भी/न अहंकारवश त्यागो/अभिनेता रिक्त पात्र/अर्जुन की समस्या : मंच से पलायन/दिग्दर्शक के इशारे पर चलो/दिग्दर्शक को याद करो/अहंकार के अलावा त्यागने के लिए है ही क्या/वस्तुतः न कुछ भोग्य है न त्याज्य है/अहंता-ममता का भी यथवद्विनियोग/आंखें न फोड़ो न मींचो/दृश्यचयन करो/शुद्धाद्वैत : दृश्य की विविधता में अद्वैत देखने का दर्शन/शुद्धाद्वैत का नीड़ खोजें/विषयानन्द की उड़ान के बाद भजनानन्द में विश्राम/रमणीयता आप्तकाम का स्वभाव/लीला : प्रयोजनरहित कृति/जीवन भगवत्क्रीड़ा/जीवन अपने आप में एक प्रयोजन/लीला निष्प्रयोजन फिर अपना प्रयोजन क्यों खोजें/सृष्टि अपने आप में एक प्रयोजन/कर्म ही फल/ न भोगवाद, न वैराग्यवाद : प्रसादवाद/ईशावास्य की देन : त्याग और भोग के अतिवाद से दूर निवेदन/सेवा-प्रणाली : एक अनुशासन/नूतन आधिदैविक दृष्टिकोण/भोग शनैश्चर/उपभोग में परमात्मा की स्मृति/शुद्ध आनंद : ऐच्छिक द्वैत/सच्चा सदुपयोग : भगवत्सेवा में समर्पण/प्रेमबद्ध चित्त भगवान् को खोज लेगा/घर में भी भगवत्केन्द्रित होना संभव/सामर्थ्यों के भगवद्विनियोग से भजनानन्द की अनुभूति ।

श्रीकृष्णाय नमः

वैसे तो अनेक धर्म अनेक सम्प्रदाय अनेक मान्यताएँ तथा अनेक पंथ भारतवर्ष में सदा से चलते आये हैं और सदा चलते ही रहेंगे, आज जो लोग कहते हैं कि नास्तिकता बढ़ गयी है तो मैं उनसे सहमत नहीं होता, क्योंकि आज जितने भगवान, जितने पंथ दिनानुदित प्रकट होते दिखलायी देते हैं, वे नास्तिकता के बढ़ने के लक्षण नहीं हैं—ये नास्तिकता के बढ़ने का कारण बनेंगे कि नहीं—कहा नहीं जा सकता! हमारे हिसाब से तो आस्तिकता ही बढ़ी है, हाँ, जो कुछ घटा है वह है हमारा धर्मविवेक और हमारी धर्मनिष्ठा। हम दृढ़ निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि हमें हमारे धर्म को जीना है कि नहीं. मान्यता के रूप में हम किसी धर्म को स्वीकार भी लें किन्तु हमारे व्यवहार में धर्मनिष्ठा पनप नहीं रही है. हम निर्णय ही नहीं कर पाते कि हमें हमारा धर्म कैसे जीना है, शायद फुरसत भी इतनी हमें हमारे आधुनिक व्यस्त जीवन में मिलती नहीं है, जीवन अधिक व्यस्ततामय हो गया है—विशेषतः बड़े नगरों में.

० उड़ने का प्रयास : गुरुत्वाकर्षण का द्वन्द्व

हमारी स्थिति एक उड़ान शुरू (Take off) करते विमान जैसी है. हम भौतिकता (Materialism) के आकाश में उन्मुक्त उड़ान भरना चाहते हैं परन्तु साथ ही साथ भूमिका—भारत भूमिका—हमारी संस्कृतिका—हमारी आत्मा में सहजतया निहित आध्यात्मिक और आधिदैविक वृत्तियों का अपना गुरुत्वाकर्षण भी कुछ है. मानो यह भूमि हमारे विमान को अपनी ओर खींच रही हो और विमान पूरी ताकत लगाकर ऊपर उठना चाहता हो यह स्थिति निरापद नहीं होती. विमान यात्रियों को ऐसे समय सलाह दी जाती है कि "सीधे तनकर बैठिये-स्वयम् को कुर्सी की पट्टी से बाँधे रखिये" क्योंकि निश्चित नहीं होता कि कब अकस्मात् हो जाये! यही द्विधा हमारे मन में भी चल रही है. हम

भौतिकता के गगन में उन्मुक्त उड़ान भरना चाहते हैं. अपनी भूमि से, किन्तु, कितनी ऊँचाई पर–कितनी दूरी पर! हमारी भूमि –हमारी संस्कृति का कुछ आकर्षण भी है ही.

कुछ लोग समझते हैं–धर्म केवल गतानुगतिकता है. एक ढर्रा चाल है. जितनी प्राचीन परम्पराएँ हैं–जितनी पुरातन रीतियाँ हैं–वे कर्मकाण्ड हैं. उन्हें तोड़ दो! उनमें विश्वास मत करो तो ऊपर उठ जाओगे. सब कुछ छोड़ दो तो ऊपर उठ जाओगे. "त्यागेनैके अमृतत्वमानशु" (!)

बात, पर, सर्वदा ऐसी ही नहीं होती. अगर कोई परम्परा कोई बन्धन या किसी भी प्रकार के रीति-रिवाज न होना–ही भौतिक विकास की एकाकी शर्त होती तो मनुष्येतर सारा पशुजगत् भी विकसित होना चाहिये था. वहाँ तथाकथित कोई भी बन्धन नहीं है.

• केवल मनुष्य ही बुद्धिमान प्राणी नहीं

कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य बुद्धिमान पशु है–मनुष्येतर प्राणियों में बुद्धिमत्ता नहीं होती यही पशु और मनुष्य का परस्पर भेद है. यह सार परन्तु इस प्रभेद में भी नहीं है. पशुओं में भी पर्याप्त बुद्धि होती है. प्राणिशास्त्र के अध्येताओं का कहना है कि कई [illegible] में मनुष्येतर प्राणी मनुष्य की तुलना में विकास के निम्नस्तर पर है और कई बातों में समान या उत्कृष्ट स्तर पर भी हैं. कई [illegible] उनके व्यवहार में मनुष्य से अधिक बौद्धिकतया संगठित होने [illegible] उदाहरण गिनाये जा सकते हैं. आप एक चींटी का उदाहरण [illegible] चींटी कितनी छोटी होती है–उसके छोटे से शरीर में कितना [illegible] और मस्तिष्क और उस छोटे से मस्तिष्क में कितनी थोड़ी बुद्धि [illegible] हमारे मनुष्य के मस्तिष्क की तुलना में! परन्तु जैसी [illegible] जैसा संगठन चींटियों में दिखलाई पड़ता है वह उसके मस्तिष्क के अनुपात से कुछ अधिक ही है. यदि एक शक्कर का दाना किसी चींटी को पड़ा मिल जाये तो दूसरी चींटियों के साथ जैसा उसका [illegible] और सहयोग भाव दिखलाई पड़ता है, वह प्रायः मनुष्य में दिखलाई नहीं पड़ता. एक ऐसी खुराक जो एक चींटी से उठती न हो तो वह एकाकी खाने नहीं लग जाती. अन्य तमाम चींटियों को बुलाकर लाती है और

वे सब मिल-जुलकर अपने बिल में उसे ले जाती हैं. क्योंकि उनमें संगठन है. उनमें परस्पर मिलजुलकर जीनेकी ललक है. अपनी उपलब्धि को परस्पर बाँट कर खाने की ललक है. यदि हमें ऐसा कुछ जब मिल जाता है तो हम छिपा देते हैं–चुपचाप कहीं सम्हाल कर रख देते हैं ताकि दूसरे के हाथ वह न पड़ जाये! हम अपनी तमाम उपलब्धियों को पेटेन्ट करवा लेते हैं. सामाजिक बुद्धि या विवेक अब बताइये हममें ज्यादा है या चींटियों में? जिस समाज में आप जी रहे हैं–जिस समाज के आप अंग हैं उस समाज के हित में भी आप व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर नहीं उठ पाते. आप कैसे विवेकी हैं–कैसे बुद्धिमान हैं? यदि आप मधुमक्खी की बात सोचें तो वह भी मनुष्य में कई बातों में उसके अनुपात में अधिक बुद्धिमान प्रतीत होती है. जिस तरह मधुमक्खी अपना मधुकोष बनाती है–जिस तरह षट्कोणाकार (Geometrical Pattern Hexagonal) वह व्यवस्थित रूप में बनाती है वह एक अद्भुत बात है. रानी मधुमक्खी कैसे मधुकोष का प्रशासन करती है इत्यादि पक्षों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि यह प्राणी भी पर्याप्त बुद्धिमान है. ऐसे एक नहीं–अनेक प्राणियों के विविध पक्षों का अध्ययन करने पर मनुष्य मात्र के बुद्धिमान होने की भ्रान्ति दूर की जा सकती है. मनुष्य अवश्य ही अन्य प्राणियों की तुलना में सर्वाधिक बुद्धिमान प्राणी है परन्तु एतावता अन्य प्राणियों को सर्वथा बुद्धिरहित नहीं माना जा सकता है.

• मनुष्य की विशेषता तार्किकता / सामाजिकता नहीं : धार्मिकता

भारतीय चिन्तकों ने मनुष्य की विशेषता बुद्धिमत्ता में खोजने के बजाय धार्मिकता में खोजनी चाही :

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषां ह्यधिको विशेषः धर्मेण हीना पशुभिस्समानाः ।।

आहार, निद्रा, अपने से बलवान् से भयभीत होना और मैथुन ये सभी गुण मनुष्येतर प्राणियों तथा मनुष्य में समान ही हैं. मनुष्य में, परन्तु, धर्म एक अतिरिक्त ऐसा गुण है जो मनुष्येतर प्राणियों में नहीं पाया जाता. अतः जब मनुष्य में धर्मभाव दृष्टिगत न होता हो तब

फिर ऐसे व्यक्तियों को पशुतुल्य ही समझना चाहिए. भारतीय चिन्तन मनुष्य की परिभाषा—"मनुष्य एक धार्मिक पशु है" कहकर देना चाहता है. सामाजिक या तार्किक पशु के रूप में नहीं. जब हम अपने धर्म का त्याग करते हैं तो भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार "धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः" हो जाते हैं. इसलिये हमारे यहां हमारी धार्मिकता में हमारी मानवता निहित है—सामाजिकता या बुद्धिमत्ता में नहीं. बुद्धिमान मनुष्य विनाश के विज्ञान को बहुत शीघ्र खोज लेता है और वैसे अस्त्र-शस्त्र साधन भी जुटा लेता है—पर धर्मवान मनुष्य से यह नहीं हो पायेगा. बौद्धिक विकास की अन्तिम परिणति परस्पर शोषण संघर्ष और विनाश के साधनों का विकास ही यदि हो तो पशुजगत् निश्चय ही मनुष्य से श्रेष्ठ है. जीवन का मतलब होता है स्वयम् को वातावरण के अनुरूप ढालना अथवा वातावरण को स्वयम् के अनुरूप ढालना. मनुष्येतर प्राणिजगत भी युगानुयुग स्वयम् को वातावरण के अनुरूप ढालता आ रहा है. इस अर्थ में मनुष्येतर प्राणियों ने भी किसी न किसी तरह अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाया ही है परन्तु वातावरण को अपने अनुकूल बनाने के बौद्धिक दम्भ में मनुष्य ने प्रदूषण ही बढ़ाया है—प्रकृति पर संघर्ष द्वारा विजय प्राप्त करने के उन्माद में अन्ततः परस्पर संघर्ष और विनाश के साधनों के विकास में जुट गया है.

० धर्म का बौद्धिक उपयोग नहीं : बुद्धि का धार्मिक उपयोग

जो लोग धर्म का उपहास करते हैं कि विभिन्न धार्मिक मान्यताएं मनुष्य को असहिष्णु अबौद्धिक और यथास्थितिवादी बनाती है उन्हें यह अब समझ लेना चाहिये कि अधार्मिक बौद्धिकता भी तो साम्यवाद-पूंजीवाद राष्ट्रवाद-वर्णवाद के नये-नये धर्म पैदा करती ही है और बात वही है. मूलतः धर्म का बौद्धिक उपयोग और बुद्धि के धार्मिक उपयोग का यहां भेद है. धर्म का भी यदि बौद्धिक उपयोग हम खोज निकालेंगे तो अनर्थ-परम्परा खड़ी हो सकती है जो बुद्धि के धार्मिक उपयोग में सम्भव नहीं.

० विजय बाह्य प्रकृति पर नहीं, आन्तरिक प्रकृति पर

आधुनिक विज्ञान की जड़ पाश्चात्य संस्कृति में निहित है. अतः वहां की वैज्ञानिक प्रगति में मूल प्रेरणा प्रकृति पर विजय कामना में निहित है. यह विजयकामना एक विशेष प्रकार के द्वैतभाव पर आधारित है. प्रकृति को एक मानव विरोधी शक्ति मान कर चलती है. प्रकृति पर यदि हम विजय प्राप्त नहीं कर लेते तो प्रकृति हमें खत्म कर देगी. एक अपूर्ण वृत्त का और द्वैत की मानसिक अनिवार्यतावश यहां मानवीय बुद्धि का विनियोग वैज्ञानिक विकास में किया गया है. हमारे यहां ऐसा द्वैतभाव नहीं सिखलाया जाता था. जीवन के तीन चतुर्थांश भाग ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास-मनुष्य प्रकृति के साथ, प्रकृति की गोद में वन में बिताता था और एक चतुर्थांश ग्राम या नगर में. अतएव समूचा विज्ञान ही प्रदूषक विज्ञान नहीं था. प्रत्युत निरन्तर प्रकृति के साथ तालमेल बैठाने का विज्ञान था. हमारी धार्मिकता हमें बाह्य प्रकृति पर नहीं परन्तु स्वभाव या आन्तरिक प्रकृति पर विजय पाने की प्रेरणा देती है. "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" कहा जाता है—हमें हमारे स्वभाव को जीतना है. प्रकृति की ओर से पड़ने अनुकूल या प्रतिकूल प्रभावों को सहन करने की क्षमता प्राप्त करने को हमें प्रेरित किया गया है. इस दृष्टिकोण में न स्वयम् के प्रति और न बाह्य प्रकृति के प्रति ही तुच्छता या घृणा की भावना है.

० वैराग्य : पलायन नहीं आत्मसंयम

यह बात ठीक है कि जब-जब वैराग्यवादी दृष्टिकोण हमारे यहां भी अतिवादी वृत्ति से लिया गया तब अतिवाद की झोंक में जगत् को मिथ्या मान लिया गया और आज भी वैसा प्रतिपादन किया जाता है. जगत् एक स्वप्न है—मिथ्या है—हेय है इत्यादि इत्यादि, यह पलायन-वाद परन्तु कभी भी सर्वमान्य नहीं हो पाया. वैराग्य का स्वरूप हमारा प्रकृति पर घृणा पर आधारित नहीं अपितु आत्मसंयम पर आधारित है. पृथ्वी पर मनुष्य का आगमन स्वर्ग से अधःपात के रूप में नहीं चित्रित किया जाता है. बल्कि पृथ्वी हमारे लिये विष्णुपत्नी है—माता है. भारतीय चेतना ने सदैव ही "माता भूमिः पुत्रोहं पृथिव्याः" का अपना नाता पृथ्वी के साथ माना था. विष्णु जगत्पालक है तथा पृथ्वी विष्णुपत्नी है. हमारी वह माता है और हम उसके पुत्र हैं. पृथिवी पर हमारा आगमन हम स्वर्ग से अधःपात के रूप में नहीं स्वीकारते हैं. पृथ्वी तो हमारे लिये "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि

गरीबसी है. हम पृथ्वी से घृणा नहीं कर सकते. हम अपनी माता से घृणा कर ही कैसे सकते हैं? माता की गोद की तुलना स्वर्ग से अधःपात रूप में नहीं की जा सकती. वह तो बच्चे के लिये सर्वाधिक आश्वस्त स्थल है. न तो हम पृथ्वी से घृणा करते हैं और न अपनी मातृभक्ति से ही! हमें यहाँ टिकना है–हमें यहाँ जीना है. और यह जीना हमारे लिये असंयत जीवन जीने के लिये नहीं–हमें तो संयत जीवन जीना है. यह संयत जीवन ऐसा नहीं है कि सर्वदा जिसमें हमें हमारी शक्तियों का केवल दमन ही करना हो. हम एक ऐसा संयत जीवन चाहते हैं कि जिसमें हम हमारी सारी शक्तियों का भगवदभिमुखीकरण कर पायें. भगवान की दिशा के तरफ उन सभी शक्तियों को प्रेरित कर पायें.

जल को संयत करने के लिये जल प्रवाह पर बाँध बाँधा जाता है. बाँध बाँधने का मतलब जल को रोकना नहीं है. जल का स्वभाव है बहना. बाँध बाँधने से वह रुक नहीं पायेगा. तिरछे बहने के बजाय ऊपर उठने लगेगा और एक दिन छलक जायेगा! बाँध बाँधने के साथ-साथ अतएव नहर प्रणाली भी हमें बनानी पड़ती है. बाँध की दीवार और नहर प्रणाली परस्पर मिलकर जल के प्रवाह को संयत कर पाते हैं. एक निश्चित अपेक्षित दिशा में जल को बहने के लिये प्रेरित कर पाते हैं. इस नहर प्रणाली के अभाव में जल प्रवाह के विरोध में केवल दीवार यदि खड़ी की गई तो वह जल प्रवाह दीवार को लाँघ जायेगा और तब दीवार भी ढह सकती है!

० संयम : दमन नहीं नियमन

संयम का मतलब, अतएव, हमारे देह में रही हुई ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय आदि शक्तियों का समुचित नियत दिशा में प्रेरण है–केवल रुक्ष दमन नहीं. रुक्ष दमन एक नहर प्रणाली के बिना जल प्रवाह के सामने खड़ी की गयी दीवार की तरह है. ऐसी दीवार का एक दिन ढह जाना ही उसकी नियति है. असंयत जीवन निष्फल एवं अनियत दिशा में बहना है. हमारे देह में रही हुई ज्ञान-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति का निष्प्रयोजन व्यय है. जैसे भगवान् ने गीता में कहा है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः

असंयत इन्द्रियाँ असंयत घोड़ों की तरह हैं–जो सवार को मनचाही दिशा में भी ले जा सकती हैं. असंयत इन्द्रियों के घोड़े हमें ऐसे मार्ग पर ले जा सकते हैं जहाँ गर्त हो और हमारा पात भी उनमें संभव हो. जहाँ पतन से हमारा अंगभंग हो सके अतएव इन घोड़ों पर हमें संयम की लगाम चाहिये. और यह लगाम इतनी नहीं खींची जाती कि ये घोड़े हमें उलट दें! लगाम इतनी ढीली भी नहीं छोड़नी चाहिये कि ये इन्द्रियों के घोड़े अपनी मनचाही दिशा में या हमारी अनचाही दिशा में ही हमें ले भागें। लगाम का मतलब है: जिन घोड़ों पर हम सवारी करते हों उन पर हमारा नियंत्रण. नियंत्रण का मतलब है कि जहाँ हमें जाना है, वहाँ हम निश्चितता और शीघ्रता से पहुँच पायें. संयम का स्वरूप यही है. संयम इन्द्रियदमन नहीं, परन्तु इन्द्रिय नियमन है. एक निश्चित निर्धारित दिशा में इन्द्रियों का प्रेरण है.

० सच्चा संयम : भगवद्विनियोग

हमारे अन्दर विद्यमान शक्तियों अथवा सामर्थ्यों पर घृणाभरी दृष्टि से उन्हें कुचल देने का उद्यम संयम नहीं, परन्तु इन सामर्थ्यों का सदुपयोग–भगवद् विनियोग ही सच्चा संयम है. हमारे धर्म की मूल प्रेरणा न तो वैराग्यवाद की है और न भोगवाद की ही. उपनिषद् अतएव, हमें प्रेरणा देते हैं भगवद् विनियोगवाद की.

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।।

यह सारा ईशावास्य है–भगवत्क्रीडास्थली है–ब्रह्म से ब्रह्म में ब्रह्म द्वारा और स्वयम् ब्रह्म के लिये प्रकट हुआ है. अतः भगवद् भोग्य है. दोनों दृष्टिकोण अतिवादी हैं: भोगवादी दर्शन भी और त्यागवादी दर्शन भी. यहाँ सब कुछ प्रथमतया भगवद्भोग्य है. जो हमें हमारा उपभोग प्रतीत होता है वह मूलतः भगवद्भुक्तप्रसाद का ही उपभोग है. जगत् और जगत् की प्रत्येक वस्तु भगवद्भोग्य हैं भगवदुपभोग के बाद ही हमें भगवत्प्रसाद के रूप में कुछ मिल सकता है. भगवान् के

भक्त की भगवत्प्रसाद में हेय बुद्धि हो नहीं सकती. भगवान का भक्त भगवान् का नैवेद्य भगवान् को धरे बिना स्वयम् लेने की कल्पना भी नहीं कर सकता. भगवद्भोग्य जगत् को भगवद्भोग्य न मानकर स्वयम् अपने उपभोग के लिये मानना ही भोगवादी दृष्टिकोण है. इस जगत् में हमें ऐसे जीना चाहिये कि इस जगत् की व्यर्थ ममतावश हम अपने उपभोग की वस्तु न मान बैठें, ममता को अतएव शास्त्र में बंधन माना गया है.

० अहंतायुक्त दोहरे भार से लदा

ममता को त्यागने के इस शास्त्रीय उपदेश का स्वारस्य न समझ पाने के कारण कभी-कभी अहंकारवश हमारे अन्दर अतिवैराग्यवाद जोर पकड़ लेता है. हम स्वयम् अपने आपको परमात्मा मानने लग जाते हैं और जगत् को हेय समझने लगते हैं. अन्यथा वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जगत् भगवान् का ही एक आधिभौतिक रूप है जिसे भगवान् ने लीलार्थ ग्रहण किया है. अतएव शास्त्र में ममता की तरह ही अहंता को भी बंधन रूप ही माना गया है. ममता से घिरा व्यक्ति भोगवाद के भँवर में डूब जाता है, परन्तु अहंता के भार से लदे व्यक्ति को अन्त में वैराग्यवाद की भी ढोना पड़ता है. श्री महाप्रभु के शब्दों में हम इसे "भारद्वैगुण्यमत्यधा" कह सकते हैं.

० गहरी भ्रान्ति : जगत् को मिथ्या / हेय मानना

अहंता पहला बन्धन है और ममता दूसरा. जगत् को मिथ्या या हेय दिखलाने वाला वैराग्यवाद भगवद्भोग्य जगत् को स्वयंभोग्य मानने वाले भोगवाद से भी अधिक गहरी भ्रान्ति है. पंडित ओंकारनाथ ठाकुर की एक बात कभी सुनी थी. कभी दो व्यक्ति उनके पास संगीत सीखने गये. उनमें एक बिलकुल संगीत से अपरिचित था और दूसरा कुछ संगीत शिक्षण किसी अन्य शिक्षक से ले चुका था. प्रथम व्यक्ति के साथ ओंकारनाथजी ने सौ रुपये में तै किया और दूसरे के साथ डेढ़ सौ रुपये में. दूसरे व्यक्ति ने आपत्ति प्रस्तुत की—"मैं कुछ जानता हूँ अतः आपको अल्प परिश्रम होगा, मुझे समझाने में. जबकि यह तो कुछ भी नहीं जानता. फिर भी मुझसे अधिक रुपये क्यों?" पंडितजी ने कहा

"तुम्हारा पहले गलत सीखा हुआ सुधारना पड़ेगा. बाद में संगीत प्रशिक्षण शुरू होगा, जबकि उसे केवल संगीत ही सिखाना है. सुधारने की झंझट उसके साथ नहीं है."

० वैराग्यवादी अहंता का जनक : अहंकार का प्रचंड विस्फोट

भोगवादी जो जगत् को स्वोपभोग्य मानता है उसे समूचा जागतिक सौन्दर्य भगवद्भोग्य समझने में कठिनाई नहीं होगी. परन्तु वैराग्यवादी जो जगत् को हेय मिथ्या या घृणित समझता है वह इसे भगवद्भोग्य कैसे मान पायेगा? अधिक समझाने का प्रयत्न करने पर जगत् की तरह जगदीश को भी मायिक मानने लगेगा! कहा भी तो जाता है कि मायारूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं—एक जीव और दूसरा ईश्वर. ऐसे लोगों के साथ अधिक चर्चा नहीं करनी चाहिये अन्यथा वे निःसंकोच "मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरौ मतौ" कहने में देर नहीं लगायेंगे! वैराग्यवाद अन्त में जगत् की तरह ईश्वर के बारे में भी विरक्ति के ही सन्देश में परिणत होता है. अहंकार का प्रचंड विस्फोट वैराग्यवादी दर्शन का जनक है. "सोऽहं सोऽहं सोऽहम्!"

भगवद् विनियोगवाद सोऽहम् के इस अन्तिम और मूल बन्धन को काटने वाले 'दा' के योग से 'दासोऽहम्' की अनुभूति है. अतएव समूचा जागतिक सौन्दर्य उसके लिये भगवत्प्रसाद है. अतएव भागवत समझाती है—

"उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि"

समूचे जागतिक सौन्दर्य में भगवत्प्रसाद की बुद्धि रखने वाले—अपने उपभोग से पूर्व सब कुछ भगवान् को समर्पित करने वाले ही भगवान् की इस अहंता-ममता पैदा करने वाली माया को जीत पाते हैं.

० सारा जगत् : भगवान् का लालन

यह समूचा जगत् एक भगवत्क्रीड़ा है—इस भगवत्क्रीड़ा में हम भी एक पात्र हैं. यह क्रीड़ा हमारे साथ भी चल रही है. यह भगवत्क्रीड़ा प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्राणी के साथ चल रही है. विश्व के प्रत्येक कण-कण में भगवत्क्रीड़ा चल रही है. विश्व के प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कण

इस भगवत्क्रीड़ा में ही अपना-अपना अभिनय कर रहे हैं. कोई मुख्य अभिनेता है तो कोई सहायक अभिनेता. नाटक में जैसे कोई 'एक्टर' हो तो कोई 'एक्ट्रेस' और कोई 'साइड कैरेक्टर' बनने वाले 'एक्टर' हों और कुछ 'एक्स्ट्रा कैरेक्टर' बनने वाले 'एक्स्ट्रा एक्टर' भी होते हैं, कोई नायक बनता है और कोई खलनायक. सृष्टि एक क्रीड़ा है. अतः क्रीड़ा के सारे उपादान यदि हम सृष्टि में देख पायें तभी वह बोध सम्पूर्ण होगा. सृष्टि का सभी कुछ–शुभाशुभ या सुन्दर-कुरूप अथवा सुख-दुःख इसी भगवत्क्रीड़ा का अंग है. नाटक के प्रारंभ होने पर जो खलनायक है वह भी नाटक का एक भाग है और मुख्य नायक भी. दोनों मंच पर दोनों की शोभा है. खलनायक से नायक की शोभा बढ़ती है और नायक से खलनायक की, परन्तु दोनों से शोभा बढ़ती है नाटक की. दोनों मिलकर क्रीड़ा को बढ़ते हैं. सृष्टि के मंच पर जो अनवरत क्रीड़ा चल रही है उसके इस वर्तमान अंक में हम सभी अभिनयकर्ता हैं. हमारा दिग्दर्शक मंच पर नहीं आता–वह तो परदे के पीछे है और हमें हमारा चरित्र समझाकर मंच पर भेज देता है. पर वह बहुत कुशल दिग्दर्शक है! हमारे अभिनय में हम कोई त्रुटि न कर बैठें–कहीं कोई संवाद भूल न जायें–पूर्ण तन्मयता (Involvement) के साथ हम अपना अभिनय निभा जायें, इसलिये उस दिग्दर्शक ने अहंता-ममता के रूप में हमारे अन्दर आत्मविश्वास ठूंस-ठूंसकर भर दिया है. कोई पात्र अपना संवाद भूल न जाये एतदर्थ (Prompter) की व्यवस्था करनी पड़ती है–एक आदमी केवल मंच पर के पात्रों को ही सुनाई पड़े इस तरह धीरे से संवाद बोलता है या उसके इशारे करता रहता है–अन्तर्यामी के रूप में. भगवान् भी हमारे अभिनय के अंगभूत क्रियाकलापों एवम् संवादों की प्रेरणा हमें देते रहते हैं. अन्तर्यामी के रूप में भगवान् प्राम्पटर (Prompter) का उत्तरदायित्व भी सम्हालते हैं!

० भगवान् : दिग्दर्शन भी, अभिनेता भी

दिग्दर्शक मंच पर नहीं आता। इसका मतलब कई बार गलत समझा जाता है कि दिग्दर्शक केवल दिग्दर्शन ही जानता है–अभिनय नहीं। परन्तु हमारे शास्त्र इसकी गवाही देते हैं कि वह परमात्मा न

केवल कुशल दिग्दर्शक ही है अपितु एक कुशल अभिनेता भी है और इस रूप में अनेक बार हम उसे सृष्टि के मंच पर अवतरित होते हुए पहचान भी सकते हैं. जब दिग्दर्शक स्वयम् मंच पर आ जाये–अकारण ही आये तो क्रीड़ा और अभिनय में नया आयाम प्रकट हो जाता है! अतएव हम भगवान् के अवतार में विश्वास करते हैं.

० न ममतावश चिपको, न अहंकारवश त्यागो : दिग्दर्शक की आज्ञा का पालन

क्रीड़ा के मुख्य कथासार (Theme) को चरम (Climex) पर पहुँचाने के लिये कुशल अभिनय की आवश्यकता है; न तो ममतावश मंच पर टिके रहने की और न अहंकारवश मंच को त्यागने की ही! मंच पर हमारे प्रवेश और मंच से हमारे निर्गमन का निर्देश या सूचना दिग्दर्शक पर निर्भर है. अतएव ममताजन्य मोहवाद और अहंताजन्य वैराग्यवाद दिग्दर्शक की आज्ञा की अवहेलना है. यह कुशल अभिनय नहीं. इस सृष्टि के मंच को स्वेच्छा से भोगने या यहाँ से भागने की वृत्ति एक प्रकार की क्रीड़ा के अभिनय में हमारी अयोग्यता का प्रमाण है. ज़रा कल्पना करिये कि कथा निर्देश (Script) के अनुसार पटाक्षेप होना हो और कोई अभिनेता यह आग्रह करे कि दो-एक संवाद और बोल लेने दो, 'आ गये महफिल में तो अब गीत गाकर ही उठेंगे!" तो कैसा लगेगा? कथा में अनिर्दिष्ट आपके गीत की तुक क्या है? इसका औचित्य क्या है? यह तो निरा फूहड़पन है।

० अभिनेता रिक्त पात्र : दिग्दर्शक ने चरित्र भरा

अभिनय करने वालों को पात्र संभवतः इसी अर्थ में कहा जाने लगा होगा कि उनका अपना कुछ भी नहीं–वे स्वयम् में एक रिक्तपात्र हैं. दिग्दर्शक के द्वारा उनमें एक विशिष्ट चरित्र या रसभाव भरा जाता है और यही उनका व्यक्तित्व है. पात्र की पात्रता या योग्यता इसीमें निहित है कि अपने अन्दर भरे हुए इस रसभाव का वह भलीभाँति निर्वाह करे. प्राप्त चरित्र का निर्वाह अभिनेता को पात्र बनाता है. ऐसे ही अभिनयकर्ता मंच पर की क्रीड़ा में सहायक होते हैं. जो इस मंच पर चिपके रहना चाहते हैं या डरकर भाग जाना चाहते हैं वे इस भगवत्-

क्रीड़ा के योग्य मात्र नहीं हैं. अभिनय करने वाला व्यक्ति मंच पर अकस्मात् स्वयम् निर्णय लेने लग जाये कि "इस तरह से चल रही क्रीड़ा का अंग मैं क्यों बनूं?" तो उसे कहना पड़ेगा कि "तुम नासमझ हो—तुम्हें प्रौनरूप में यह निर्णय लेना चाहिये था—आहार्य अभिनय (मेकअप) से पहले. तुम अपने आहार्य (मेकअप) धारण कर मंच पर आ गये और अब डरते हो? तुम अपात्र हो, अयोग्य अभिनेता हो!"

• अर्जुन की समस्या : मंच से पलायन

अर्जुन की सारी समस्या क्या थी? वह मेकअप लगाकर महाभारत के मैदान में पहुँच गया था. सभी अभिनेता अपने-अपने मेकअप लगाकर मंच पर तैयार खड़े थे—परदा उठता है—और अकस्मात् एक अभिनेता कहता है—"मुझसे यह चरित्र नहीं निभेगा! मैं युद्ध नहीं कर पाऊंगा!" फिर तुमने ओढ़ा का मेकअप क्यों लगाया—क्यों तुम शंख बजाते हुए सेना पंक्ति के बीच में अपना रथ लिवा लाये हो—तुम्हारे इस योजीव और कवच धारण करने का अर्थ क्या है—क्यों यहां आये हो? साक्षात् परमात्मा तुम्हारा सारथी बनकर रथ हांक रहा है—फिर यह दिशाभ्रम का एहसास कैसा? काल, कर्म, स्वभाव, प्रकृति और पुरुष सभी का एकमात्र नियंता अन्तर्यामी (Propter) जब तुम्हारे अभिनय और तुम्हारे संवाद के इशारे तुम्हें दे रहा है फिर यह संकोच यह उलझन और यह अनिर्णय कैसा है? तुम औचित्य और अनौचित्य का विवेक करना चाहते हो परन्तु थोथे विवेक का आधार तुम्हारी तत्त्वदृष्टि नहीं है. तुम विवेक की बातें करते हो, अपने क्षुद्र अहंकार और निःसार ममता के द्वंद्व के कारण! तुम सोच रहे हो—"युद्ध करने से बंधुजनों के वध का अपराधी मैं बनूंगा—अपने और विपक्षियों के कुल के विनाश का कारण मैं बनूंगा—मैं यह जघन्य कार्य नहीं करूंगा—क्योंकि इसमें मेरा न तो कुछ प्रिय होने वाला है और न श्रेय ही!" यह मैं और मेरे की कड़ियों में बंधी हुई तुम्हारी दार्शनिक दृष्टि केवल एक अज्ञानजन्य मोह की बौद्धिकता का बाना पहनाये जाने की प्रक्रिया है, अर्जुन भगवान् को इसी मोहवश कहता है—"मेरा रथ लौटा लो—मैं युद्ध नहीं करूंगा—चाहे कौरव मेरा वध क्यों न कर दें!"

मंच पर से भागने वाले अहंकारी वैराग्यवाद को भगवान् अनावृत करते हैं. कहते हैं—"तुम क्लीव हो! यह युद्ध के मैदान से भगाने वाली तुम्हारी कायरता का तुम्हारे अहंकार के साथ कोई भी तालमेल नहीं है। वास्तविकता देखा जाये तो मैं और मेरे पर आश्रित विलास में स्वयम् ही भोगवाद और वैराग्यवाद दोनों का ही अन्तर्द्वन्द्व है—अस्पष्ट चयन अथवा विकल्प में से एक पक्ष का चयन न कर पाने की अक्षमता है. कर्म करता हो तो ममतारहित होकर करो—कर्म त्यागना है तो अहंता रहित होकर कर्म त्याग करो. मेरी भक्ति के रूप में ही निष्काम कर्म करो और मेरी भक्ति के रूप में ही निरहंकार ज्ञान-वैराग्य संपादित करो. अन्यथा सब कुछ मुझ पर छोड़ दो! मैं तुम्हारा रथ चला रहा हूँ—जहाँ जिस दिशा में ले जाऊँ चले चलो; परन्तु तुम सोचते हो कि तुम्हारे भाग जाने से शायद तुम्हारे बंधु-बांधव बच जायेंगे? यह तुम्हारा अज्ञान है अपने प्रत्येक पहलू में! आत्मदृष्टि से देखा जाये तो न तुम मार सकते हो और न वे मर सकते हैं. देहदृष्टि से देखना हो तो लो देखो कि वे मर ही गये हैं! तुम उन्हें क्या मारोगे या कैसे बचा पाओगे? महाकाल के रूप में मैंने सभी को मार ही रखा है, तुम्हें तो केवल तीर चलाने का अभिनय करना है! "मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा"—मेरे कथा निर्देश (Script) में मैंने जिन्हें मार दिया है—उन्हीं पर तुम्हें तीर चलाना है और वे ही तुम्हारे तीर से मर भी पायेंगे—दूसरे नहीं! क्यों व्यथित होते हो, अपनी अहंता-ममता से? तीर चलाओ! हाँ, तीर चलाओ और देखो कि वे मरने का अभिनय करते हैं कि नहीं! वे अपनी मृत्यु का अभिनय तुम्हारे तीर उन्हें लगने की क्रिया के साथ सहकालिक (Syncronize) करना चाहते हैं. और तुम दुविधा में पड़े हो कि इतिहास में तुम्हारे बारे में क्या लिखा जायेगा। तुम्हारा इसमें श्रेय होगा कि नहीं या मरने का अभिनय करने वाले का प्रिय होगा कि नहीं. तुम कैसे अभिनेता हो? तुम कैसे पात्र हो? "निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!" बस केवल अपना तीर चला दो—मृत्यु तो उनकी पूर्व निर्धारित है. चाहो विश्वरूप की मेरी स्क्रिप्ट-कथा में देख लो वे सभी के सभी मरे हुए ही हैं! और मैं दिग्दर्शक स्वयम् जब तुम्हें युद्ध के मैदान में लाने का अभिनय कर रहा हूँ तो आश्वस्त

होकर जिस दिशा में रथ मोड़ दूं उस दिशा में अपना तीर क्यों छोड़ नहीं पाते? अपना अभिनय भूल गये ही तो मुझ (Prompter) अन्तर्यामी पर थोड़ा-सा लक्ष्य दो, मैं तुम्हारा रथ हांक रहा हूँ—"मामनुस्मर युद्ध च"।

० दिग्दर्शक के इशारे पर चलो

अपने अहंकार से पैदा होती दिखलायी देने वाली क्रियाएं और अपनी ममता के कारण उस क्रिया के फल का लोभ अथवा भय में अपने मुझे देखने का प्रयत्न करो—दिग्दर्शक को भूले बिना अपना अपना अभिनय करो—अभिनय कर्म तुम्हें करना है पर दिग्दर्शक स्वयम् जब तुम्हें (Prompt) कर रहा है—तुम्हारा सारथी बनकर रथ हांक रहा है—तब अपनी अहंता-ममता या रुचि-अरुचि को भूल जाओ! तुम्हारी ममता के कारण पैदा होती भोग कामना को छोड़ दो! इसी तरह तुम्हारे अहंता से पैदा होती विरक्ति को भी छोड़ दो! केवल अपना कर्म करो—कुछ याद नहीं आता हो तो मुझे याद करो, मुझे देखो—मेरे इशारों को देखो—मेरा अनुस्मरण करो और युद्ध करो!

० दिग्दर्शक को याद करो

तुम परमात्मा को ही अपने सारथी के रूप में पहचानो, वह तुम्हारे जीवन रथ को कभी गलत दिशा में नहीं ले जायेगा. उसे जिस दिशा में तुम्हारा रथ ले जाना है वही तुम्हारी सच्ची दिशा है. यदि तुम्हें गलत दिशा ही लगती हो तो भी तुम रथ लौटा नहीं पाओगे—"यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति!" गलत भी दिशा उसके रथ के उस मोड़ने की क्रियामात्र से सही दिशा बन जायेगी. पर तुम भाग नहीं पाओगे. तुम अपना रथ हांक नहीं पाओगे—तुम्हारे जीवन यंत्र पर तुम सवार हो और यंत्रचालक वही है—"भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया"—अतः अपने जीवन रथ के एकमात्र सारथी परमात्मा की शरण में आ जाओ! नहीं, तुम नहीं आ सकते जब तक वह स्वयमेव तुम्हें अपनी शरण में खींच न ले, और कौन उसकी शरण में नहीं है? फिर भी यह बोध सर्वसुलभ नहीं. वह जिसे गीता समझाये वही जान सकता है कि सब कुछ उस परमात्मा

की आज्ञा के अनुसार ही होता है—"करिष्ये वचनं तव! नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत!" उसके प्रसादसे हुआ को अपनी कृतज्ञता पुनः उसके समझाने पर याद आती है. जिसे याद आती है वही इस मंच के गलत उपयोग (भोगने या भागने) से बच सकता है. वही अभिनय चराकर कर पायेगा—हर कोई नहीं. यह त्रुटि भी एक क्रीड़ा का एक चित्ताकर्षक अंग है. अतएव अर्जुन को भी याद दिलाया गया कि डरो मत-घबराओ मत—दिग्दर्शक को याद करो—उसकी सूचनाओं को याद करो—तुम्हें जिस अभिनय का पात्र बनाया गया है उसके द्वारा इसकी चरम परिणति तक पहुँचने दो! अपने चरित्र को उसी सीमा तक अभिव्यक्त करना चाहिये जिस सीमा तक हमारी पात्रता है. सीमा के बाहर भोगने की कामना या सीमा के बाहर भागने की कामना इस क्रीड़ा-नाटक में रसाभास पैदा करती है. "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा". (त्यागपूर्वक भोग का सिद्धान्त अहंकाररहित त्याग और ममतारहित भोग का सिद्धान्त है.)

० अहंकार के अलावा त्यागने के लिए है ही क्या?

यदि तुम्हें कुछ त्यागना है तो उस परमानंद रूप परमेश्वर की सृष्टि में तुम्हारे पास तुम्हारे अहंकार के अलावा त्यागने जैसा कुछ भी नहीं है—त्याग कर दो इस अहंकार का कि तुम कुछ त्याग कर सकते हो. यह समग्र ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म ने अपनी क्रीड़ा के लिये रचा है अतः यहाँ तुम्हारे भोग के लिये कुछ है ही नहीं तो त्याग किस वस्तु का करोगे—अलावा तुम्हारे अहंकार के?

यदि तुम्हें कुछ भोगना है तो यहाँ ईशावास्य जगत् में भगवद्-भोग के प्रसाद के उपभोग के अलावा और कुछ है ही नहीं. जो प्रतीत होता है वह केवल मिथ्या ममता का मोह है.

० वस्तुतः न कुछ भोग्य है, न त्याज्य है

वास्तविकतया तुम्हारे लिये इस सृष्टि में न कुछ भोग्य है और न कुछ त्याज्य. समूची भोग और त्याग की भावना मिथ्या ममता और अहंता पर अवलम्बित है। भगवान् की क्रीड़ा में तुमने "मैं" और "मेरा" गढ़ लिया है पर है सब कुछ उसका. उसके भोग के लिये निर्मित सारी

सामग्री तुम्हें केवल प्रसाद के रूप में मिल सकती है. यह भगवद् प्रसाद, परन्तु, भोगवादी, ममतामयी वृत्तियों के द्वारा प्राप्त नहीं होगा. अपनी ममता को मुलाकर भगवद्-सौम्य प्रत्येक सुन्दर श्रेष्ठ एवं शुभ का भगवान् को समर्पण करो तो वही भगवत्प्रसाद के रूप में तुम्हें प्राप्त हो सकता है. यह त्यागपूर्वक भोग अथवा भगवद्-विनियोग का सिद्धान्त है. इसमें जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण का सन्तुलन (Balance) दिखलाई देता है. अन्यथा केवल त्याग या केवल भोग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं. जो केवल त्याग करना चाहता है वह निरे अहंकार के बिना संभव नहीं—इस भगवल्क्रीड़ा को त्याज्य घृणास्पद समझता है और अतएव अपने अदान्त अहंकार के अनुरूप वह विरत होकर इस क्रीड़ा से पलायन करना चाहता है. मगर भगवान् कहते हैं—"यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे मिथ्यैष व्यवसायस्ते". जिस अहंकार के वशीभूत होकर तुम अपने कर्तव्य से विरत होना चाहते हो, वह तुम्हारी धारणा ही मिथ्या है. जब तुम अपने 'मैं' को सारे जगत् से अलग और श्रेष्ठ समझने लगते हो तो जगत् से भागना चाहते हो—जब सारे जगत् को अपने इस 'मैं' से जोड़कर 'मेरा' मान बैठते हो तो स्वयम् ही भोगना चाहते हो. भगवान् कहते हैं—"तुम जगत् को अपनी ममता के कारण भलीभाँति नहीं भोग पाओगे—ममता के वशीभूत होकर जितना भोगना चाहोगे तुम्हारी भूख बढ़ती चली जायेगी. उस अस्वाभाविक तीव्रता तक बढ़ जायेगी कि जितना भोगोगे उतना कम लगेगा—तुम्हारा भोग ही अन्त में तुम्हें भोगने लग जायेगा. "न जातु: काम कामानामुपभोगेन शाम्यति हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते". कितना भी घी आग में डालो आग बुझती नहीं, प्रत्युत अधिकाधिक बढ़ती जाती है. ममतापूर्वक विषय भोग भी कभी सन्तोषप्रद नहीं होगा. ममता को अधिकाधिक बढ़ाता जायेगा साथ में असन्तोष और कुण्ठा को भी.

० अहंता-ममता का भी भगवद् विनियोग—

श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु इस अनर्थकारी अहंकार और ममता को भी त्यागने के पक्ष में नहीं हैं. क्योंकि वह भी अन्त में इस क्रीड़ा के दिग्दर्शक द्वारा हममें क्रीड़ा के उचित अभिनय के करवाने के लिये हममें

भरा गया आत्मविश्वास है. वे समझते हैं कि यदि वे मोह हैं तो क्या हुआ—हैं भगवान् के दिये हुए उपहार—इन्हें फेंकने की धृष्टता का कोई भी औचित्य नहीं है. महाप्रभु कहते हैं कि अहंता और ममता का हमें कुछ भगवान् के बारे में उपयोग खोजना चाहिये—इनका भी भगवद्-विनियोग ही मानव की श्रेष्ठतम उपलब्धि है. "सर्वत्यागापेक्षया भगवति सर्वार्पणमुत्तमम्" अर्थ त्याग की अपेक्षा भगवान् को समर्पित करना एक उत्तम बात है. आँखें जो भगवान् में देखने के लिये दी हैं उन्हें फोड़ने से कोई लाभ नहीं होगा. आँखों को फोड़ने से आँखों द्वारा पैदा किये हुए सपने खतम नहीं हो जायेंगे. यह समस्या का समाधान नहीं किन्तु समस्या को टालने की बात हुई.

० आँखें न फोड़ो, न मींचो : दृश्यचयन करो

मैंने कभी एक सूरदासजी से कभी पूछ ही लिया था कि उन्हें सपने आते हैं या नहीं—मुझे एक बचकानी भ्रान्ति थी कि आँख वालों को ही सपने आते होंगे. उन्होंने कहा कि उन्हें भी आते हैं. संभवत: तीव्र ही आते होंगे, क्योंकि न देख पाने की कुण्ठा का भी तो मन समाधान चाहता होगा। आँखों से न देख पाने की न्यूनता का अथवा ऐसी असन्तुष्ट वासना का समाधान मन और अधिक गहरे सपनों में डूबकर खोजता होगा. उसे तो केवल स्वप्न से ही सन्तुष्ट होना है.

आँख फोड़ने से काम नहीं चलेगा—आपको देखना पड़ेगा—देखना पड़ेगा और देखना ही पड़ेगा! अत: देखिये, परन्तु, विवेकपूर्वक दृश्य का चयन करके. न आँख मींचने से काम चलेगा और न फोड़ने से. आँखों के देखने के सामर्थ्य को व्यर्थ व्यय करने से भी बुढ़ापे में दृष्टि सामर्थ्य क्षीण ही होगा. आप कहीं देखते-देखते ही अंधे न हो जायें! कालेज में अधिक पढ़ाकू विद्यार्थी का चित्र चश्मा पहने हुए ही हमारे मानस पर उभरता है! जितना अधिक देखना चाहोगे उतनी ही शीघ्रता से आँखों के नंबर बढ़ते चले जायेंगे. देखने में आवश्यकता है अतएव दृश्यचयन की.

० शुद्धाद्वैत : रंग की विविधता में अद्वैत रेखा का दर्शन

श्रुति कहती है कि जगत् में देखने जाओगे सुख-दु:ख, रागद्वेष या शोक-मोह के अनेकविध द्वैतों से घटित दृश्य सामने आएंगे। घबराने

की, किन्तु, कोई आवश्यकता नहीं. "तत्र को मोह कः शोक: एकत्व-मनुपश्यत:."—सुख-दुःख या शोक-मोह के सारे रंग अनेकमिश्र हैं—फिर भी किसी एक रेखा से घिरे हुए हैं. इन विभिन्न रंगों के द्वैत में यदि उस अद्वैत रेखा का दर्शन हो जाये—द्वैत का अनुदर्शन अद्वैत से मंडित हो जाये—अनेकता का अनुवाद किसी एक अर्थ या शब्द में हो जाये तो आपका देखना सार्थक देखना माना जायेगा. अब आप सुख-दुःख के द्वैत का अनुवाद एक परमानन्द अद्वैत के रूप में कर पायेंगे. इसे महाप्रभु शुद्धाद्वैत कहते हैं. हमारी सारी खोज इसी शुद्धाद्वैत के बारे में होनी चाहिये. यदि हमें हमारे दृश्य का चयन करना है तो, जगत् की अनेक-रूपता में हमें उस एकता की खोज करनी है जिसमें या जिस पर यह अनेकरूपता अवलम्बित है. तमाम पक्षी दिनभर इधर-उधर भटकते-उड़ते रहते हैं परन्तु साँझ खिलने से पहले अपने-अपने घोंसले की ओर—उस पेड़ की ओर लौटने लगते हैं जहाँ उनका 'निशान्त' है, जहाँ रात्रि के अंधकार में भी उन्हें निर्भय विश्राम है. वे सब एकनीड़ हो जाते हैं.

० शुद्धाद्वैत का नीड़ खोजें

हमें भी अपने इसी शुद्धाद्वैत के इस एक नीड़ को खोजना चाहिये जहाँ दिनभर की राग-द्वेष या सुख-दुःख की द्वैतवाली उड़ान के बाद हम निर्भय परमानन्द विश्राम पा सकें। उड़ने की यहाँ मनाई नहीं—उड़ो—खूब उड़ो—इतना उड़ो कि थक के चूर हो जाओ—हमारी आत्मा भी सहस्र परिवत्सरों से विषयानन्द के गगन में उन्मुक्त अनेक दिशाओं के द्वैत में उड़ान भरती चली आई है. दिशाओं के द्वैत में, किन्तु हमें अपना नीड़—अपना वृक्ष—अपना शुद्धाद्वैत नहीं भूलना है. थक गये हो उड़ते हुए? तो आओ लौट चलें अन्धकार होने से पहले उस शुद्धाद्वैत परमात्मा की ओर जो हमारा नीड़ है—जो हमारा निशान्त आश्रय है. संस्कृत भाषा में घर का ही नाम 'निशान्त' भी है. दिन कहीं भी बीता हो, कोई बात नहीं—अंधियारी रात के पहले हमें घर पहुँच जाना चाहिये—निशा वहीं घर में बितानी होगी. अतएव घर 'निशान्त' कहलाता है.

सारे दिन आप उड़ें—अवश्य उड़ें—पर सारी उड़ान के बाद साँझ को अपने नीड़ पर पहुँचना होगा. प्रत्येक जीव में रही हुई चर्षणी—यत्र-

तत्र सर्वत्र हमें सभी दिशाओं की ओर उड़ा ले जाने वाला सामर्थ्य भी किसी शरद् ऋतु की रात्रि में हमारे निशान्त श्रीकृष्ण तक हमें ले जाने वाली शक्ति हो सकता है. सम्भवतः सारी दिशाओं में उड़े बिना—नितान्त परिश्रान्त हुये बिना अपने घर पहुँचने के सुख की पूरी मधुरता भी हमें अनुभूत नहीं होगी.

० सिद्धानन्द की उड़ान के बाद भजनानन्द में विश्राम

आपके जीवन में जितने द्वैत हैं. मैं और तू के, राग और द्वेष के या सुख और दुःख के उनकी विभिन्न दिशाओं में उड़ान भरकर जब आप थक जायें तो आपको एक नीड़—एक निशान्त चाहिये विश्राम के लिये. वह विश्राम आपको श्रीकृष्ण के परमानन्द में—भजनानन्द में अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ इन सारे द्वैतों की एक शुद्धाद्वैतवाली अनुभूति में. इन सारे द्वैतों को आप परमात्मा के शुद्धाद्वैत में एक नीड़ नहीं कर पायें तो आप थकान की अंधेरी रात्रि में भी उड़ते रहेंगे. आपकी वृत्तियाँ विश्राम चाहती हैं-विषयानन्द की द्वैतवादी उड़ान के बाद भजनानन्द के शुद्धाद्वैत में विश्राम चाहती हैं. अतः आप लौटें नहीं तो थके हुए अंधियारी रात में उड़ना पड़ेगा! परमात्मा के शुद्धाद्वैत की अनुभूति का परमानन्द नहीं प्राप्त हुआ तो विषयानन्द के केवल द्वैत का ही शोक-मोह आपके जीवन की नियति बन जायेगा. अंधेरी रात में उड़ते रहने का मतलब होगा दिन में सो जाना! जो अपनी आँखों को अन्धकार से अभ्यस्त कर लेते हैं उनकी आँख दिन के प्रकाश को सहन नहीं कर पाती. उन्हें दिन में दीखना बंद हो जायेगा!

एक बड़ी मजेदार बात आपको बताऊँ. अपने यहाँ उल्लू को हम मूर्ख समझते हैं. हम भारतीयों की दृष्टि में उल्लू मूर्ख है क्योंकि वह दिन के उजाले में देख नहीं पाता, यूनानी दृष्टि में, किन्तु, उल्लू एक दार्शनिक पक्षी है. क्योंकि वह रात्रि के अंधकार में भी देख पाता है, जब अन्य कोई देख न पाता हो! अब कहिये कि वह दार्शनिक है या मूर्ख? हम उल्लू को "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" नहीं मानते क्योंकि उसके जागरण में संयम नहीं किन्तु दिन में न जग पाने का असामर्थ्य एवम् भूख हेतु है. अकेला भूखा उल्लू रात को अपना शिकार खोज कर खाता रहता है. वह जागरूक है पर संयमी नहीं.

भोगेच्छा उसे जागने को विवश करती है. यह स्वकीय भोग के उपभोग का उदाहरण माना जा सकता है. यह "सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै" का उदाहरण नहीं है. जब आप अन्य के साथ देख नहीं पाते, अन्य के साथ चख नहीं पाते, अन्य के साथ भोगों का उपभोग नहीं कर पाते तो आपका भोग—आपका सुख—आपको मोक्ष भी आपकी एकाकिता—आपको केवलाद्वैत के कारागृह का अभिशाप है।

जीवात्मा का केवलाद्वैत उसे एकाकिता का अभिशाप है परन्तु परमात्मा का शुद्धाद्वैत वस्तुतः एक की अनेक रूपों को धारण कर निरन्तर चलने वाली एक श्रेष्ठ सुन्दर एवम् सुखद लीला है, सारा जगत उस परमानन्दरूप परमात्मा श्रीकृष्ण की एक क्रीड़ा है.

० रमणेच्छा : आप्तकाम का स्वभाव

श्रुति कहती है "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्" केवलाद्वैत की स्थिति परमात्मा के लिये भी रमण-आनन्दकारी नहीं थी. तब जीवात्मा को एकाकी होने पर केवलाद्वैत में कैसे वास्तविक सुख मिल सकेगा? अतएव श्रुति कहती है "स द्वितीयमैच्छत्" परमात्मा एकाकी रहना चाहता तो इस सृष्टि का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ होता. सृष्टि के प्रादुर्भाव का प्रयोजन कुछ भी नहीं है. लोग चिन्ता करते हैं कि परमात्मा से सृष्टि के प्रादुर्भूत होने का प्रयोजन क्या है. सृष्टि क्यों प्रादुर्भूत होती है? क्या ब्रह्म में कोई न्यूनता थी जो सृष्टि के प्रकट होने से दूर हुई? यदि यह सत्य हो तो ब्रह्म ब्रह्म नहीं रह जायेगा. परिपूर्णता ही ब्रह्म है. फिर सृष्टि का प्रयोजन क्या? उत्तर प्राप्त होता है "देवस्यैष स्वभावोयं आप्तकामस्य का स्पृहा."

सृष्टिकर्ता में किसी भी प्रकार की कमी स्वीकारते पर वह ब्रह्म नहीं रह जायेगा. तब उसे परमात्मा आप्तकाम पूर्णकाम मानने में कठिनाई होगी. यदि वह पूर्णकाम है तो सृष्टि रचना के चक्कर में क्यों पड़ता है? बिना कामना के—बिना प्रयोजन के कोई कार्य करना हम विवेकहीनता की निशानी मानते हैं. "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते।" बिना प्रयोजन के तो पागल भी कोई काम नहीं करता.

पागल के भी कुछ पागलपन के प्रयोजन तो होते ही हैं. हम समझ न पायें हों पर उसके अपने प्रयोजन तो होते ही हैं. तब परमात्मा का प्रयोजन खोजिये कि उसने यह सृष्टि क्यों बनाई? क्या समूचा ब्रह्माण्ड एक निष्प्रयोजन प्रक्रिया है? ब्रह्माण्ड यदि परमेश्वर की निष्प्रयोजन कृति हो तो परमेश्वर को बुद्धिमान नहीं माना जा सकता है.

० क्रीड़ा : लीला : प्रयोजनरहित कृति

उपनिषद् में, परन्तु, हमें समाधान मिलता है कि यह समूची सृष्टि एक—शुद्धाद्वैत परमात्मा का अनेक रूपों में रमण है. परमात्मा के एकत्व में—एक होने में निर्भयता है क्योंकि द्वैत ही सारे भयों का मूल है. ब्रह्म की दृष्टि से देखने पर सृष्टि से पूर्व, सृष्टि के समय और प्रलय के बाद भी परमात्मा एकमेवाद्वितीय है किन्तु अनेक रूप लिये बिना रमण या क्रीड़ा संभव नहीं—और रमण यह परमात्मा का स्वभाव है अतः बाह्य किसी भी प्रयोजन के बिना केवल अपने क्रीड़ा के स्वभाव के अनुरूप ही परमात्मा अनेक रूप धारण करता है. एक ही तत्व अनेक रूपों को धारण करता है अपने आप में कोई न्यूनता या बाह्य प्रयोजन के वशीभूत होकर नहीं. परन्तु स्वयम् के स्वभाव के अनुरूप ही. क्रीड़ा उसका स्वभाव है प्रयोजनरहित कृति को ही लीला या क्रीड़ा कहा जाता है. क्रीड़ा में अतएव कोई बाह्य प्रयोजन नहीं होता—क्रीड़ा स्वयम् में एक प्रयोजन है या क्रीड़ाकर्ता का स्वभाव. "क्रीड़ार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते" "क्रीड़ाभाण्डमिदं विश्वम्" परमात्मा ने तीनों जगत् स्वयम् की क्रीड़ा के लिये बनाये हैं अतः यह विश्व एक क्रीड़ाभाण्ड है. अतः सृष्टि का प्रयोजन खोजना क्रीड़ा का प्रयोजन खोजने के बराबर है. क्रीड़ा का प्रयोजन खोजना प्रयोजन के प्रयोजन खोजने के बराबर होगा। प्रयोजन का प्रयोजन—उसका प्रयोजन और फिर उस प्रयोजन के प्रयोजन के प्रयोजन का प्रयोजन! यह वैचारिक अनवस्था है!

० जीवन : भगवत्क्रीड़ा

जैसे कोई पूछे "खाना क्यों खाते हो?" तो हम उत्तर देंगे कि भूख लगती है इसलिये. यदि वह फिर से पूछे कि भूख क्यों लगती है

तो हम कहेंगे शरीर को अपने निर्वाह के लिये पोषक तत्त्व की आवश्यकता है. यदि फिर भी कोई व्यक्ति पूछे कि शरीर का निर्वाह क्यों करना चाहते हो तो हम निश्चित ही उत्तर दे पायेंगे कि जीना है इसलिये, परन्तु आगे बढ़कर प्रश्नकर्ता यह पूछ बैठे कि जीना क्यों है तो जो भी उत्तर दें वह या तो जीने की प्रक्रिया का ही कोई अंग होगा या फिर आप सीधे यही कहना चाहेंगे कि जीना है क्योंकि जीना है—जीवन अपने आप एक प्रयोजन है—सारे अन्य प्रयोजन जीवन के ही अंगभूत हैं—जीवन एक क्रीड़ा है, जीवन निश्चय ही भगवत्क्रीड़ा है.

० जीवन : अपने आप में एक प्रयोजन

संभवत: कोई तर्क दे कि किसी विशेष प्रयोजन या लक्ष्य की प्राप्त करने वाले के लिये जीवन साधन भी हो सकता है बजाय प्रयोजन के. एक क्रान्तिकारी का जीवन एक साधन है और लक्ष्य उसका होता है क्रांति. क्रांति के लिए ऐसा व्यक्ति जीवन बलिदान कर सकता है. परन्तु क्रान्ति हो या परिवार के पेट भरने की भ्रान्ति, हैं सभी कुछ जीवन ही विविध प्रणालियां. आपका जीवन आपके 'अहम्' से जुड़ा हुआ है. आपका अहम् आपकी वर्तमानता में ही सीमित नहीं होता. आपके भूत और आपके भविष्य पर भी आपका अहम् छाया हुआ रहता है. आपका अपना अहम् जब आपके परिवार से जुड़ जाता है तो आप जैसे व्यक्तिगत: जीवन जीते हैं ठीक उसी तरह आपका परिवार भी आपके जीवन का ही अंग बन जाता है. आपके अहम् का यह फैलाव है. क्रान्तिकारी का जीवन भी क्रान्तिकारी के अहम् का संपूर्ण समाज या विश्व में एक फैलाव है. वह अपना जीवन ही समाज या विश्व के जीवन में खोजता है. भविष्य के सुख के लिये वर्तमान के कष्ट आप सहर्ष झेल जाते हैं, ऐसे ही एक क्रान्तिकारी भी अपने अहम् के विस्तार के अनुरूप अपने व्यक्तिगत: जीवन की उपेक्षा कर जाता है. परन्तु क्रान्ति भी अन्त में है किसी जीवनप्रणाली का अंग ही. और जीवन ही अन्त में प्रयोजन ठहरता है. स्वयम् जीवन से भिन्न कोई प्रयोजन संभव नहीं. जीवन का अतएव जीवन एक क्रीड़ा है. वह अपने आप में एक प्रयोजन है. समग्र ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म की एक क्रीड़ा है—ब्रह्माण्ड के निर्माण पालन या प्रलय के द्वारा ब्रह्म को न कुछ प्राप्त हुआ, न हो रहा है और न

होगा. ब्रह्म अपने लीलास्वभाव के अनुरूप इस ब्रह्माण्ड का निर्माण पालन और प्रलय करता है. यही तो उसकी क्रीड़ा है. क्रीड़ा अपने आप में प्रयोजन का स्वभाव हो सकती है किन्तु क्रीड़ा के प्रयोजन की खोज क्रीड़ा में रसाभास पैदा करती है. और हम अपना तो प्रयोजन कभी खोज नहीं पाते और ब्रह्माण्ड के प्रयोजन की खोज में भटकते रहते हैं. यह मानवीय बुद्धि का चमत्कार है!

जैसे चूहों को पकड़ने के लिये चूहादानी में कुछ खुराक रखी जाती है—जैसे सरकस में खेल दिखाने के लिये पशुओं को उनकी खुराक दिखायी जाती है, ठीक उसी तरह इस क्रीड़ाभाण्ड में बुद्धिमान मानव पशु में प्रयोजन बोध रख दिया गया है. इस प्रयोजनबोधवश हम भी अनेक करतब दिखाते हैं, क्रीड़ा चलती रहती है. प्रयोजनवश कार्य करने की वृत्ति हमारे बौद्धिक अहम् का ही एक दूसरा पहलू है. यह अहम् ही हमारे अभिनय में हमें आत्मविश्वास प्रदान करता और आत्मविस्मृति भी! जैसे कठपुतली के खेल में हर पुतली के अंगों से बंधे डोरे होते हैं, ये बड़े सूक्ष्म और चारों ओर के वातावरण में ओझल हो जाने वाले होते हैं. हमारी अहंता और ममता अथवा हमारी बुद्धि में भरे हुये इच्छा स्वातंत्र्य एवम् सप्रयोजनता के बोध कुछ ऐसे ही धागे हैं. परमात्मा इन धागों को अपनी अंगुलियों से बांधकर जो अभिनय जो कर्म या जो संवाद हम से चाहता है करवा लेता है. बुलवा लेता है. प्रयोजन बोध एवम् अहम्-बोध् के धागों से हमारे हाथ-पैर बांधे हुए हैं. जैसे जिस तरह वे खींचे जाते हैं—हम नाचने लगते हैं—हमारे हाथ-पैर हिलते-डुलने लगते हैं, वही हमें नचाता है—वही हमें चलाता है पर हम सचेतन होने के कारण अहंकार कर बैठते हैं कि हम चल रहे हैं! हमारी चेतना में हमें हमारे अहम् का बोध होता है—हमारे अनेकविध प्रयोजनों का बोध होता है. बोध, परन्तु, हमें यह नहीं होता कि हमें बांधने वाले—बंधनकारी—धागों को ही हमने हमारी मौलिक स्वतंत्रता का चिन्ह समझ लिया है.

० लीला निष्प्रयोजन फिर अपना प्रयोजन क्यों खोजें ?

वस्तुत: सब कुछ भगवान की लीला के वश हो रहा है—हमारे प्रयोजनवश नहीं. मूल में ही जब प्रयोजन नहीं तो तूल में प्रयोजन

कहाँ से आ गया? एक ऐसे अवकाशयान की कल्पना करिये जो अनन्त शून्य आकाश में केवल उड़ रहा है. कहीं पहुँचना नहीं है उसे—कहीं जाना नहीं है—केवल चलना है तो उसका गन्तव्य क्या होगा? स्वयम् जिस यान का कोई गन्तव्य न हो पर उसमें बैठा सवार अपने कुछ गन्तव्य मान बैठे तो वह कहाँ पहुँचेगा! जब यान का ही कोई गन्तव्य न हो तो सवार का गन्तव्य क्या हो सकता है? व्यक्ति का ऐसे यान में सवार होना एक अकस्मात् हो या नियति हो—बुद्धिमत्ता हो या मूर्खता—चाहे जो कुछ आप मानें. निरुद्देश्य यात्र में सवार होना ही व्यक्ति के तमाम व्यक्तिगत प्रयोजनों को झुठलाना है. जिस ब्रह्माण्ड में हम सवार हैं उसका भी प्रयोजन कुछ है नहीं—वह भी एक निष्प्रयोजन लीला है. ऐसी लीला में अकस्मात् मनुष्य यह सोचने लगे कि मेरा यह प्रयोजन है—मुझे यह करना है—वहाँ पहुँचना है—ये प्रयोजनों को पूर्ण करने की कामना और उनके अपूर्ण रहने पर—उनमें विघ्न उपस्थित करने वाले पर—प्रकट होती हमारी रोषभावना को भगवान गीता में हमारी चित्त की चंचलता मानते हैं—हमारी परम शत्रु मानते हैं। "काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भव : महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्."

• सृष्टि : अपने आप में एक प्रयोजन

भगवान की स्वयम् की लीला में हमारे अपने प्रयोजनों की पूर्ति या अपूर्ति के लिये हमारा काम या क्रोध से अभिभूत होना ही हमारी स्वयम् की स्वयम् के साथ बरती जाती एक दुश्मनी है. लीला की फ्रेम में प्रयोजनों के चित्र फिर नहीं ही पायेंगे. लीला का कोई प्रयोजन नहीं होता अतः हमारे घड़ने पर भी बन नहीं पायेगा. समग्र सृष्टि का भी अतएव प्रयोजन आप घड़ नहीं पायेंगे. सृष्टि अपने आप में एक प्रयोजन है उस परमानन्दरूप परमेश्वर का स्वभाव ही क्रीड़ा है. अतः हम इस सृष्टि में उसी क्रीड़ा की आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं. उस अनन्त क्रीड़ा में हम केवल दृश्य या अंक है. जैसे हम परमात्मा के अंश हैं वैसे ही हमारे अनुभव में आती तमाम घटनायें उस महाक्रीड़ा की अंग हैं. हमारे सारे क्रियाकलाप उस परमात्मा की इच्छा से, निर्देश से नियंत्रित हो रहे हैं. जो कुछ हो रहा है—जो कुछ हमें करना है या नहीं करना है—सर्वत्र भगवदिच्छा ही एकमात्र कारण है. वह इच्छा

है एक परमात्मा के अनेक रूप धारण कर क्रीड़ा करने की इच्छा. अतः प्रत्येक पात्र का अभिनय एक एक इकाई है उनका कुल योग क्रीड़ा को चरम बिन्दु पर ले जायेगा. इसमें से यह किसी को भी नहीं सोचना है कि नाटक का चरमबिन्दु मुझ पर निर्भर करता है. वह देखना मेरा काम नहीं. मेरा काम है केवल मुझे दिये गये अभिनय को पूर्णतया निभाना चरम बिन्दु अपने आप आ जायेगा. "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन. मा कर्मफल हेतुर्भू र्मा ते संगोस्त्वकर्मणि." तुम्हारा काम है कर्म करना. कर्मफल का विचार तुम्हारा काम नहीं है और न अकर्मण्यता ही तुम्हें अपनानी चाहिये.

• कर्म ही फल

परमात्मा अपना कर्म कर रहा है तुम अपना कर्म करो. तब तुम्हें पता चलेगा कि तुम्हारा कर्म ही तुम्हारा फल था. जो घटना घट रही है वही अपने आप में प्रयोजन थी. किसी भी घटना का उस स्वयम् घटना से भिन्न कोई प्रयोजन संभव नहीं. क्योंकि प्रत्येक घटना उस परमात्मा की क्रीड़ा की ही आंशिक अभिव्यक्ति है.

प्रत्येक घटना का भलिभाँति घट जाना—प्रत्येक कर्म का हमारे द्वारा निष्काम संपन्न हो जाना ही पूर्ण अभिनय है. "कर्मण्येवाधिकारस्ते." वही कर्म साधन भी है और वही कर्म साध्य या फल भी है. जैसे एक किसान खेती करता है अनाज उगाता है तो बीज बोने पड़ते हैं. जो बीज बोये जाते हैं वे ही अंकुरित होकर—पक कर दुबारा बीज बन जाते हैं—चक्र चलता रहता है. नया कुछ भी हासिल नहीं होता. बीज बोते हैं बीज ही दुबारा हासिल करते हैं. जो हमें हासिल है वही हासिल होता रहता है—नया कुछ भी नहीं. फिर भी प्रत्येक उपलब्धि का नया उत्साह और नयी प्रेरणा है. अभिनय की श्रेष्ठता, किन्तु, तब मानी जायेगी कि कुछ हासिल न होने पर भी वही उत्साह-वही प्रेरणा बनी रहे!

० न भोगवाद, न वैराग्यवाद : प्रसादवाद

अभिनय करते चले जाओ! अपना विवेक मत खोना कि हम कुछ हमारे लिये कर रहे हैं. हम तो अपने दिग्दर्शक के निर्देश के अनुसार

कर रहे हैं—"मामनुस्मर युद्ध च।" मेरा स्मरण रखो और युद्ध करो. यदि संघर्ष का दृश्य चल रहा है, यदि दृश्य तुमुलमय बन रहा हो तो रमण के अभिनय में भी परमेश्वर को भूल न जाना! प्रत्येक स्थिति में तुम्हें परमात्मा के साथ रहना चाहिये. भीष्म का उदाहरण देखें! श्रीकृष्ण की स्तुति करता जाता है और युद्ध भी! जिसकी स्तुति कर रहा है उसे ही प्रतिज्ञा-संघर्ष में हराने की भी ठाने हुए है. जिसके साथ स्पर्धा उसी की स्तुति और जिसकी स्तुति उसी के साथ स्पर्धा! कैसा विलक्षण अभिनय! परन्तु भीष्म निष्णात है! यही क्रीडा का सच्चा स्वरूप है. ऐसे चरित्र से हमें पता चलता है कि "त्यक्तेन भुंजीथा" का सिद्धान्त क्या है. भोगवाद और वैराग्यवाद दोनों अतिवादी दृष्टिकोण हैं. उपनिषद् का दृष्टिकोण प्रसादवादी है. न भोग को भोगो और न भोग से भागो—उसे परमात्मा को समर्पित करो. परमात्मा का नैवेद्य सदा पावन होगा. तुम अपने भोग से पहले परमात्मा को समर्पित करो और प्रसाद के रूप में उनका ग्रहण भी पुनः परमात्मा के लिये ही करो. समर्पित करने के बाद जो प्रसाद के रूप में तुम्हें प्राप्त होगा वह भगवान का वास्तविक प्रसाद या प्रसन्नता होगी.

० त्याग और भोग के अतिवाद से दूर निवेदन : महाप्रभु की देन

मध्यकाल में अतिवैराग्यवाद की झोंक में यह सनातन औपनिषद दृष्टिकोण कुछ ओझल हो गया था. महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने किन्तु पुनः इस सनातन श्रौत धर्म की प्रतिष्ठा की भारतीय धार्मिक चिन्तन में यह श्री महाप्रभु का बहुत बड़ा योगदान स्वीकारना ही पड़ता है. त्याग और भोग के अतिवाद से दूर निवेदन-समर्पण-प्रसाद—इन की महत्ता पुनः स्थापित कर एक स्वस्थ आधार हमें प्रदान किया. जो कुछ भी सामर्थ्य हमें भगवान के द्वारा प्राप्त हुआ है वह भगवत् प्रसाद है अतः उसका या किसी भी सामर्थ्य का उपयोग सर्वप्रथम परमात्मा के लिये ही होना चाहिये—पहले जो भी कुछ श्रेष्ठ सुन्दर या शुचि हमारे पास हो उसे भगवान् के हक में विनियोग करो. स्वयम् अपने अहंकार के हक में नहीं और न किसी रागद्वेषास्पद व्यक्ति के ही हक में ही.

तुम्हें आँखें दी गयी हैं तो पहले इन आँखों से भगवान् को जगत् में खोजने की कोशिश करो. भगवान् को देखने वाली आँखों को भगवान् तो ज्ञान या भक्ति के प्रकट होने पर ही मिलेंगे किन्तु भगवदीयता सर्वत्र प्रारम्भ में भी दिखलायी दे सकती है. जगत् में भगवदीयता का बोध विभिन्न विकृति और उसके असत् की भ्रान्ति दूर कर देगा. हमें कान के द्वारा सुनने की सामर्थ्य मिली है अतः जब कुछ सुनना हो तो ऐसी बात सुनो कि तुम्हें भगवद्गुण सुनायी पड़े. जो तुम्हें इष्टतम-प्रियतम वस्तु है—जिस कार्य को संपन्न करने से तुम्हारे चित्त में हर्ष का प्राकट्य होता है—जिसे लोक में सच्चा अच्छा और सहज समझा जाता हो वही तुम्हें ममता जगेगी अतः उसे सर्वप्रथम भगवान् को समर्पित करो।

० सेवा-प्रणाली : एक अनुशासन

इस सर्वसमर्पण के दिव्य सिद्धान्त को जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिये श्रीमहाप्रभु ने एक कार्यक्रम—एक अनुशासन—या एक जीवन प्रणाली हमें समझायी. वही हमें दिया गया अनुशासन हमारी सेवा-प्रणाली है. श्रीमहाप्रभु के अनुशासन के अनुसार स्वयम् भक्त होना घर में रहने का स्वस्थ हेतु नहीं किन्तु भगवान के साथ भगवत्-सेवा के लिये घर में रहना एक उत्तम बात है. हमारे घर-गृहस्थी के सारे क्रियाकलाप हमारे घर में विराजते भगवान की सेवा के अंग होने चाहिये. सभी क्रियाकलापों का अन्तिम प्रयोजन भगवान् स्वयम् होने चाहिये—हमारी अहंता या ममता की तुष्टि नहीं. आप नौकरी या व्यापार द्वारा कमाइये आपकी शौक—मौज के लिये नहीं, किन्तु आपके घर में विराजते भगवान की सेवा के लिये तथा सेवा करने वाले परिवार के सब सेवकों के लिये—केवल परिवार के लिये नहीं. आप विवाह करें. इसलिये नहीं कि आपको एक पत्नी की अपेक्षा है, आपको विवाह इसलिये करना है कि घर में भगवत्सेवा के लिये जीवन संगिनी या सहधर्मचारिणी की अपेक्षा है. आपके बाद भी आपकी दुकान या मील जैसे आप चाहते हैं कि आपका बच्चा चलाये! पुष्टिमार्ग चाहता है कि ठीक ऐसी ममता अपने घर में संपन्न होने वाली भग-

सेवा में भी पैदा हो जाये कि आप चाहने लगें कि आपकी देह छूटने के बाद भी आपके घर के ठाकुर की सेवा आपका बेटा करे. विवाह आपको इसलिये करना है, घर के सभी लोग हिलमिल कर घर के प्रभु की सेवा करते हों इसके अलावा कोई सुखी परिवार की परिभाषा पुष्टिमार्ग में नहीं सौंपी जा सकती.

० मूलतः आधिदैविक दृष्टिकोण—

बात वही है, सम्बन्ध सूत्र वही है, सभी कुछ जैसे का तैसा है परन्तु एक नूतन आधिदैविक दृष्टिकोण से हर तरफ दृष्टि डालनी है. जो विरक्त बनते हैं उनकी विरक्ति का चक्कर—बड़ा टेढ़ा होता है. उपनिषदों में तीन प्रकार की कामनाओं (१) पुत्रैषणा (२) वित्तैषणा और (३) लोकैषणा के त्याग करने वाले को विरक्त कहा जाता है. जो लोग इन तीनों प्रकार की कामनाओं को छोड़ देने का दावा करते हैं उनके अनेक लोग शिष्य बन जाते हैं! इन शिष्यों के निरन्तर संग के कारण "संगात् संजायते कामः" एक नये प्रकार की कामना शिष्यैषणा पैदा हो जाती है. तब कहने को जो दो-चार बेटा-बेटी थे सो अब सभी चेला-चेलियों को 'बेटा-बेटी' कहकर कुशल प्रश्न पूछना पड़ता है. इनके लिये मठ-आश्रमों का निर्माण-संचालन पहले से ही कहीं अधिक वित्तार्जन साध्य होता है. लोक संग्रहार्थ यों अनेकविध श्रम करने पर वही तीनों पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा केवल एक शिष्यैषणा के रूप में छल जाती हैं! आजकल तो शिष्यैषणा के चक्कर में बैंक ड्राफ्ट से मठ-आश्रम को मुक्ति दिलाने के सरकारी चक्करों का ब्याज और अधिक चुकाना पड़ता है! पुत्र, वित्त या लोक के त्याग से पुत्रैषणा वित्तैषणा या लोकैषणाएँ छूटती नहीं हैं और शिष्यैषणा के रूप में उनका अदम्य विस्फोट पाया जाता है.

भोग छूटता नहीं—भोग की वृत्ति छूटती नहीं—भोग के इस या उस विषय को छोड़ने से अतएव वैराग्य सिद्ध होता नहीं. गीता में भगवान् कहते हैं कि विषयोपभोग की बाह्य क्रिया के संयम से वास्तविक संयम घटित नहीं होता. मन से विषयों की स्मृति क्षीण नहीं होती—विषयोपभोग से पैदा होते सुख की तुष्टि का बोध क्षीण होता नहीं.

अतएव इन्द्रियों के विषय इस तरह कर्मेन्द्रियों को संयत करने वाले विज्ञान को दूषित करते हैं. "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते."

संस्कृत में एक मजेदार सूक्ति है—"भोगाः न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः." भोगों को भोगने या भोगों से भागने दोनों ही स्थिति में आप भोग के गुलाम बन जाते हैं—भोगभीत बन जाते हैं—भोग ही कहीं आपका उपभोग कर लेते हैं. ज्योतिषी लोग जैसे शनि की साढ़े साती की कथा कहते हैं वैसी ही कथा भोग की भी है:

एक बार भगवान् शंकर पर उनकी राशि के हिसाब से साढ़साती की दशा लगने वाली थी. शनैश्चर ने जाकर महादेव को यह सूचित किया. शंकर भगवान् ने कहा—"कोई चिन्ता की बात नहीं तुम अपना प्रभाव दिखलाओ और मैं अपना उपाय प्रतीकार का कर लूंगा!" शनि तो विदा हो गया परन्तु परिवार में अपने सर्पों को कार्तिकेय के मयूरों से प्राणभय तथा गणेश के मूषकों को अपने सर्पों से प्राण भय—इसी तरह अपने नन्दी को देवी के सिंह से प्राणभय और साढ़े साती की दशा लगने पर कलह आदि की संभावना का विचार कर परेशानी बढ़ने लगी तो सब से उत्तम और अन्तिम यही जँचा कि सब कुछ छोड़कर साढ़े सात वर्ष कैलाश के शिखर पर एकतान समाधि ही लगा लेनी ठीक बात होगी. इस तरह भगवान् शंकर ने साढ़े सात वर्ष जब दिव्य समाधि की अवस्था में व्यतीत कर दिये तब एक रोज शनिदेव भगवान् शंकर के चरणों में पड़कर बिदाई माँगने आये तो महादेव ने मुसकराकर पूछा—"कहो! तुम्हारे सारे प्रभाव को क्षीण कर दिया कि नहीं?" शनिदेव ने कहा—"महाराज! क्षमा करिये, साढ़े सात वर्ष पर्यन्त पत्नी-पुत्र-सेवक सब के सुख से वंचित कर दिया सो मेरा कार्य सिद्ध हो गया! आप सर्वसमर्थ हैं चाहे तो इसे समाधि सुख मान लें."

० भोग : शनैश्चर

शनि को अतएव शनैश्चर—बहुत शनैः शनैः विचरण करने वाला माना जाता है. भोगों का भी स्वरूप शनैश्चर का ही होता है.

इन्द्रियों के बाह्य क्रियाकलापों के सारे द्वार बन्द कर देने पर भी मन के न जाने कैसे छिपे हुए द्वारों से भोगवृत्ति हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाती है. भोगों से भागने की अथवा भोगों को भोगने की प्रक्रिया में भोग वृत्ति के शिकार बनते रहते हैं. बहुत जोरी-किये शनैः शनैः भोग वृत्ति हमारे अन्दर छोड़ने पर पुनः प्रविष्ट हो जाती है! भोग इस अर्थ में अनेश्वर है—जैसे मिथ्यैषणा.

• उपभोग में परमात्मा की स्मृति

श्री महाप्रभु अतएव समझाते हैं कि भागने या भोगने से भोग की चिकित्सा संभव नहीं—उसे भगवान् को समर्पित कर दो—भोगों के उपभोग में परमात्मा की स्मृति बनाये रखो—भोगों से भागना हो तो भगवान् की तीव्र विरहानुभूति में ही. विषयों से भयभीत होकर या विषयों के प्रति घृणाद्वेष रखकर नहीं—किन्तु भगवान् के प्रति परमानुराग और उससे पैदा होने वाली तीव्र विरहानुभूति के वश ही भागा भी जा सकता है.

० शुद्ध अद्वैत : ऐच्छिक द्वैत

जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप में परमात्मा का संबंध दिखलायी देना चाहिये—जीवन में अनुभूत होते सारे द्वैतों के साथ-साथ एक परमात्मा के अद्वैत की अनुभूति भी संपन्न हो जाये तो द्वैत भयावह नहीं रह जाते. द्वैत के साथ-साथ अद्वैत की अनुभूति में नीरसता भी नहीं रह जाती. केवल अद्वैत नीरस होता है अतः सरसता के लिये द्वैत अपेक्षित है. केवल द्वैत भयजनक होता है अतः निर्भयता के लिये अद्वैत अपेक्षित है. केवल अद्वैत भोग से भागने की वृत्ति में पनपता है और केवल द्वैत में भोग को भोगने की वृत्ति पनप सकती है. शुद्धाद्वैत हमारे सामने समाधान प्रस्तुत करता है—परमात्मा के स्वाभाविक अद्वैत में परमात्मा की इच्छा से प्रादुर्भूत ऐच्छिक द्वैत की अनुभूति परमात्मा को विस्मृत किये बिना यदि घटित हो जाये तो काम बन गया!

० सच्चा सदुपयोग : भगवत्सेवा में समर्पण

इसका आरंभ जीवन प्रत्येक सूत्र में परमात्मा को पिरोने पर संभव है. घर में रसोई बने परमात्मा को भोग धरने के लिये चित्त-

वृत्ति की रुचि भगवान् की दिव्य लीलाओं के चित्र बनाने में संतुष्ट हो. भगवान् के रूप को देखने में नयनों की रूप-दर्शन-लालसा संतुष्ट हो. गायन का शौक भगवान् के गुणगान से पूरा किया जाय. भगवान् ने जो सामर्थ्य दी है देखने सुनने गाने सूँघने चलने-फिरने सोचने स्मरण करने इत्यादि की उनका व्यर्थ विरक्तिवश त्याग करने से काम नहीं चलेगा और न इनके व्यर्थ विषयोपयोग द्वारा दुरुपयोग से किसी लाभ की संभावना है. अपेक्षा इन सामर्थ्यों के सदुपयोग की है. सच्चा सदुपयोग किसी भी वस्तु या सामर्थ्य का भगवान् की सेवा में समर्पित कर देने में ही निहित है.

• प्रेमाकुल चित्त भगवान् को खोज लेगा

आँखों के द्वारा जो हमें देखने की सामर्थ्य मिली है उसका दुरुपयोग जैसे क्षुद्र रूपदर्शन करने पर हो जाता है वैसे ही उसका निरुपयोग आँखों को फोड़ने या बन्द कर देने पर हो जायेगा. देखने की सामर्थ्य का सदुपयोग भगवान् के विविध रूप एवम् लीलाओं के दर्शन में चरितार्थ होगा. आँखों को फोड़ने से विरक्ति सिद्ध नहीं होती और न रूपस्वप्नन से ही. ब्रह्म यदि नीरूप-निराकार हो तो इन रूपहारी आँखों का कोई अर्थ या अर्थ ही नहीं रह जाता. रूपदर्शन की सामर्थ्य के निरुपयोग या दुरुपयोग करने पर सामर्थ्यदाता परमात्मा की प्रसन्नता स्वीकारी नहीं जा सकती. सामर्थ्य का अहंकारवश अनुपयोग सामर्थ्य के दाता परमात्मा की अवहेलना है. सामर्थ्य का ममतावश दुरुपयोग उक्त सामर्थ्य के दान की अवहेलना है. भगवत्सेवा में विनियोग या भगवदर्थ विनियोग उक्त सामर्थ्य का सच्चा सदुपयोग एवम् दाता और दान का सच्चा सम्मान है. आँखों को फोड़ने की जरूरत नहीं है आँखों से भगवान् के दर्शन की जरूरत है. अतएव सच्चे काम की परिभाषा—"कामो हरिदिदृक्षेव" कह कर पुष्टिपमार्ग में दी जाती है. हरिदर्शन की कामना ही पुष्टिजीवन में वास्तविक काम है. हरि की कामना ही काम है. वह चाहे आँखों से हो या कानों से—नाक से हो या जिव्हा से—स्पर्श से हो या अन्यथा. अहम् से हो या चित्त से—बुद्धि से हो या मन से लालसा जब हरि के बारे में होगी तो वह प्रदत्त सामर्थ्य के सदुपयोग की ओर ले जाने वाली होगी. वह भग-

वात्सल्यस्वरूपा होगी. श्री महाप्रभु कहते हैं कि चित्त में एक बार भगवत्प्रेम का सम्पादन होना चाहिये बाद में प्रेमावृत्त चित्त सर्वत्र विराजमान भगवान् को स्वयम् ही खोज लेगा.

० घर में भी भगवत्केन्द्रित होना संभव

परमात्मा की इस तरह की खोज में वन और गृह का भेद नहीं है—प्रासाद और पर्णकुटी का भेद नहीं है. सम्पत्ति और विपत्ति का भेद नहीं है—उच्च और नीच का भेद नहीं है. प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ है—वह जैसा भी है—जहाँ भी है भगवत्केन्द्रित हो सकता है. अपने सांसारिक क्रियाकलापों में अपने संसार में परमात्मा की प्रतिष्ठा करके —अपने घर में अपने ठाकुर को पधरा कर—उनकी सेवा के द्वारा भगवदर्थ विनियोगार्ह बना सकता है. अपने आपको भगवद्भाव से ओतप्रोत करना ही गृह सेवा का चरम प्रयोजन है. पुष्टिमार्ग में गृहसेवा का अर्थ है स्वगृह में स्थित भगवान् के स्वरूप की सेवा. भगवान् कृष्ण परब्रह्म परमात्मा होने के कारण व्यापक हो सकते हैं. परन्तु उन्हें पुष्ट—कृपाशील तब ही माना जाता है जब वे किसी एक भक्त के गृह में निरुद्ध हो जायें. भगवान् जब भक्त के घर में निरुद्ध हो जाते हैं और घर के सारे क्रिया-कलाप भगवान् में निरुद्ध हो जाते हैं तो भक्त का संसार ब्रह्मात्मक परमानन्दरूप मोक्ष के आनन्द से भी उत्कृष्ट भजनानन्द प्रदान करने वाला बन जाता है.

० सामर्थ्यों के भगवद्विनियोग से भजनानन्द की अनुभूति

भोग में क्षुद्र विषयानन्द की अनुभूति होती है. त्याग द्वारा मोक्ष मिलने पर परिगणित ब्रह्मानन्द की अनुभूति हो सकती है. पर अगणित भजनानन्द की अनुभूति भोग और त्याग दोनों से बचते हुए अपने सामर्थ्यों का भगवद्विनियोग करने पर ही संभव है. यह महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने हमें समझाया है.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ विवेकधैर्याश्रय : ॥

विवेकधैर्यं सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥१॥

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंश्रयात् ।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥२॥

अभिमानश्च सत्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तः करणगोचरः ॥३॥

तदा विशेषमत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।
आपन्दत्यादि कार्येषु हठत्याज्यश्च सर्वथा ॥४॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।
विवेकोयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥५॥

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।
तक्रवद्देहवद्भव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥६॥

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥७॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥८॥

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।
एतत्सहनमत्रोक्तं आश्रयोतो निरूप्यते ॥९॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामार्थपूरणे ॥ ॥१०॥

[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥११॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥

अलौकिकमन: सिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरि: ।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥१३॥

अन्यत्र भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
प्रार्थना: कार्यमात्रेषि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥१४॥

अविश्वासो न कर्तव्य: सर्वथा बाधकस्तु स: ।
महारत्नापहर्तारो भाव्यो प्राप्तं सवेत निर्मम: ॥१५॥

[illegible] कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥१६॥

एकैकमेवमेव प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
कर्मा भक्त्यादिमार्गा हि दु:साध्या इति मे मति: ॥१७॥

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितो विवेक धैर्याश्रय ग्रन्थ: संपूर्ण: ॥